श्री मृणालिनी माता

गुरु-शिष्य सम्बन्ध



Yogoda Satsanga Society of India
FOUNDED 1917
Paramahansa Yogananda



श्री श्री परमहंस योगानन्द
(१८९३-१९५२)

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

(The Guru-Disciple Relationship)



श्री मृणालिनी माता

''आदर्श जीवन'' पुस्तकमाला

Yogoda Satsanga Society of India
FOUNDED 1917
Paramahansa Yogananda

First Hindi Edition. 2000
Second Impression, 2007



योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/
सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप का अधिकृत प्रकाशन

YOGODA SATSANGA SOCIETY OF INDIA
Yogoda Satsanga Math, 21, U. N. Mukherjee Road,
Dakshineswar, Kolkata 700 076
द्वारा भारत में मुद्रित तथा प्रकाशित

वितरक:



Diamond Pocket Books

योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया के भारत में स्थित सभी आश्रमों एवं ध्यान केन्द्रों में भी उपलब्ध।

-❖-

एक शक्ति है जो आपको स्वास्थ्य, सुख, शांति और सफलता की ओर ले जाने वाले मार्ग को प्रकाशमान कर सकती है, यदि आप उस प्रकाश की ओर उन्मुख हों।

— श्री श्री परमहंस योगानन्द

-❖-

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

द्वारा श्री मृणालिनी माता

7 जुलाई 1970 को लॉस ऐंजेलिस में योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया / सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप की स्वर्ण जयंती के अवसर पर इन संस्थाओं की उपाध्यक्षा द्वारा दिया गया एक प्रवचन।

ईश्वर ने हमें इस संसार में एक दिव्य नाटक करने के लिये भेजा। स्वयं प्रभु की ही प्रतिमूर्तियाँ होने के नाते हमारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य यही है कि हम सीखें; और सीखने के द्वारा विकसित हों; और निरन्तर विकसित होते हुए अंततः अपने सच्चे स्वरूप को व्यक्त करें और ईश्वर के साथ एकता की अपनी मूल अवस्था में वापस पहुँच जाएँ।

जब हम इस संसार में नन्हें शिशुओं के रूप में अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम पहले अपने अनुभवों के माध्यम से सीखते हैं। हम कुछ करते हैं और यदि उसका परिणाम अच्छा निकले तो उसे दोहराते जाते हैं। परन्तु यदि किसी

विशेष कृत्य से हमें दुःख पहुँचता है तो तत्पश्चात् हम उस कृत्य से बचने का प्रयास करते हैं।

इसके बाद हम दूसरों के उदाहरणों से सीखना शुरू करते हैं। हम अपने परिवारजनों, मित्रों, तथा समाज के लोगों के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं और उनकी गलतियों तथा सफलताओं का विश्लेषण कर उससे शिक्षा ग्रहण करते हैं।

हमारे अनुभव हमें नित्य आगे बढ़ाते रहते हैं और हम अपने इहलौकिक जीवन के अर्थ को अधिकाधिक गहराई में जाकर समझने का प्रयास करते रहते हैं। फिर एक समय ऐसा आता है जब हम में से प्रत्येक व्यक्ति अंतिम सत्य की खोज गंभीरता से करने लगता है। जिस मनुष्य की चेतना इस स्तर तक विकसित हो जाती है वह अपने आप से प्रश्न पूछने लगता है : "जीवन क्या है?" "मैं क्या हूँ?" "मैं कहाँ से आया हूँ?" तब प्रभु ऐसे मुमुक्षु को किसी उपदेशक के पास लाकर या शास्त्रों की या तत्वज्ञान की पुस्तकें दिलाकर उसकी प्रारंभिक जिज्ञासा की तृष्णा बुझाने के द्वारा प्रत्युत्तर देते हैं। जैसे-जैसे वह दूसरों के ज्ञान को आत्मसात करता जाता है वैसे-वैसे उसकी समझ विकसित होती जाती

है और उसकी आध्यात्मिक उन्नति गति पकड़ती है। वह सत्य या ईश्वर के थोड़ा समीप सरकता है।

अंततः यह ज्ञान भी अपर्याप्त लगता है। वह सत्य का साक्षात्कार स्वयं करने के लिये लालायित हो उठता है। उसके अन्तर में विद्यमान आत्मा उसे सोचने पर उद्यत करती है : "यह संसार मेरा निवास तो हो ही नहीं सकता! मैं केवल यह शरीर नहीं हो सकता; यह तो केवल एक अस्थायी पिंजरा लगता है। अवश्य ही जीवन मेरी इंद्रियाँ जितना ग्रहण कर सकती हैं उससे कहीं अधिक है, कुछ ऐसा जो मृत्यु से परे भी अस्तित्व रखता है। मैंने सत्य के बारे में पढ़ा है; सत्य के बारे में सुना है। अब मुझे सत्य को जानना होगा!"

अपनी संतान की ऐसी तीव्र व्यथात्मक पुकार का उत्तर देने के लिये करुणामय भगवान उसके पास किसी प्रबुद्ध मार्गदर्शक को भेजते हैं, ऐसा मार्गदर्शक जिसने आत्मा को पहचान लिया है और यह जान गया है कि आत्मा ही परमात्मा है — एक सच्चा गुरु। ऐसे गुरु के जीवन में परमात्मा की अभिव्यक्ति निर्बाध रूप से नित्य प्रकट होती रहती है।

सद्गुरु की व्याख्या

आद्य शंकराचार्य* ने गुरु की व्याख्या इस प्रकार की है : ''तीनों लोकों में गुरु का कोई समतुल्य नहीं है। यदि पारसमणि की तुलना भी गुरु से की जाय तो पारसमणि केवल (लोहे को) सुवर्ण में रूपान्तरित कर सकता है, दूसरी पारसमणि में रूपान्तरित नहीं कर सकता। सद्गुरु के चरणों में जो आश्रय लेते हैं उन्हें गुरु अपने समान ही बना देता है। इसलिये गुरु निरुपम ही नहीं, बल्कि अलौकिक है।''

योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया / सेल्फ रियलाइज़ेशन फेलोशिप के गुरु-संस्थापक परमहंस योगानन्द जी ने कहा है : ''गुरु जागृत ईश्वर है जो शिष्य में निद्राधीन ईश्वर को जगा रहा है। सहानुभूति एवं दिव्य दृष्टि के माध्यम से सद्गुरु देखता है कि भगवान स्वयं ही शारीरिक, मानसिक, एवं आध्यात्मिक स्तर पर दुर्बल मनुष्यों में दुःख भोग रहे है। इसलिये गुरु ऐसे लोगों की सहायता करना अपना हर्षप्रद कर्तव्य मानता है। वह निराश्रित लोगों में

---

* भारत के महानतम दार्शनिक। भारत की संन्यास परंपरा के पुनर्संगठक (आठवीं या नवीं शताब्दि में), आद्य शंकराचार्य संत, विद्वान और कर्मठ पुरुष के गुणों के अद्भुत समागम थे।

क्षुधापीड़ित भगवान को भोजन देने का, अज्ञानी लोगों में निद्रिस्त भगवान को जगाने का, शत्रुओं में अचेत भगवान से प्रेम करने का, तथा लालायित भक्त में अर्धजागृत भगवान को उठाने का प्रयास करता है। उन्नत साधक में वह स्पर्श मात्र से लगभग पूर्णजागृत भगवान को तुरन्त जगा देता है। गुरु सब मनुष्यों में सर्वोत्तम दाता है। स्वयं भगवान के समान ही, गुरु की उदारता की भी कोई सीमा नहीं होती।''

श्री श्री परमहंस योगानन्द ने इस प्रकार सद्‌गुरु के अनंत विवेक, अनंत प्रेम, सर्वव्यापी सर्वालिंगनकारी चैतन्य का वर्णन किया है। जिन शिष्यों को परमहंसजी को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उन्होंने देखा है कि ये सभी गुण उनमें पूर्णतः प्रकट थे।

गुरु-शिष्य संबंध

यह ईश्वर रचित सृष्टि सुव्यवस्थित ब्रह्माण्डीय नियम के अनुसार चलती है, और गुरु-शिष्य संबंध का उद्‌गम उसी नियम में होता है। यह ईश्वरीय विधान है कि जो भी ईश्वर की खोज करता है उसे किसी सद्‌गुरु द्वारा ही ईश्वर से मिलाया जाता है। जब साधक सचमुच भगवान को जानने की

इच्छा करता है तब उसका गुरु आ जाता है। केवल वही जो भगवान को जानता है, शिष्य को वचन दे सकता है : ''मैं तुम्हें भगवान से मिला दूँगा।'' सद्गुरु ने भगवान को पाने का रास्ता पहले ही ढूँढ़ लिया है; इसलिये वह चेले को कह सकता है, ''मेरा हाथ पकड़ो। मैं तुम्हें रास्ता दिखा दूँगा।''

गुरु-शिष्य संबंध में वे सब नियम और सदाचार संबन्धी सिद्धान्त निहित होते हैं जिनका ईश्वर को जानने के लिये तैयार होने के लिये पालन करना अनिवार्य होता है। जब शिष्य गुरु की सहायता से पूर्णता प्राप्त कर लेता है, तब ईश्वरीय विधान की पूर्ति हो जाती है, और तब गुरु उसे ईश्वर से मिला देता है।

गुरु एवं उसकी शिक्षाओं में निष्ठा

गुरु और शिष्य के बीच संबंध में सबसे पहला नियम है निष्ठा।

हमारा अहंभाव, अर्थात् क्षुद्र ''मैं'' की चेतना तथा अस्तित्वबोध, ही वह एकमात्र तत्त्व है जो हमें ईश्वर से दूर रखता है। जिस पल व्यक्ति अहंभाव को मिटा देता है उसी पल वह अनुभव कर लेता है कि वह सदा ही ईश्वर के साथ

एकरूप रहा है, अभी भी है, और हमेशा रहेगा। अहंभाव माया का वह काला बादल है जो आत्मा को घेर कर, उसके शुद्ध चैतन्य को आच्छादित कर, उसके अपने बारे में और सृष्टि के बारे में अनंत गलत धारणाओं को उस चेतना में मिलाकर उसे विकृत बना देता है। अहंभाव के भ्रम का एक परिणाम है मन की चंचलता। जैसे-जैसे साधक अपनी आत्मा के दिव्य गुणों को प्रकट करने लगता है वैसे-वैसे वह मानवीय स्वभाव की इस भरोसा न करने योग्य प्रवृत्ति को हटाता चला जाता है और निष्ठावान तथा समझदार व्यक्ति बनता है।

शिष्यत्व के मार्ग में गुरु के प्रति निष्ठा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कदम है। अधिकांश लोग तो अपने सगे-संबंधियों या अपने पति, पत्नी या मित्र के प्रति भी पूर्ण निष्ठा नहीं रख पाते। इसीलिये गुरु के प्रति पूर्ण निष्ठा की कल्पना को पूर्णतः समझना कठिन होता है। सच्चा शिष्य बनने के लिये शिष्य को भगवान द्वारा भेजे गये गुरु के प्रति निष्ठावान होना चाहिये। उसे अपने गुरु की शिक्षाओं का निष्ठा से और अनन्य भाव से पालन करना चाहिये।

निष्ठा में संकीर्णता नहीं होती। भगवान और उनके प्रतिनिधि के प्रति निष्ठावान रहने वाला हृदय विशाल होता

है, सब जीवों के प्रति समझदार, दयालु होता है। अपने गुरु एवं उसकी शिक्षाओं मे सदा अनन्यभाव से अहैतुकी निष्ठा के साथ स्थिर रहने वाला शिष्य चिरंतन सत्य की अन्य सभी अभिव्यक्तियों को उचित परिप्रेक्ष्य में देखता है और उनके प्रति यथोचित आदर एवं श्रद्धा का भाव रखता है।

इस विषय पर परमहंस जी ने कई प्रवचन दिये हैं। वे कहते थे : ''कई लोग संतुलित बनना सीखने से पहले ही यह चिंता करना शुरू कर देते हैं कि वे कहीं संकीर्ण मनोवृत्ति वाले न बन जायं। उथले साधक अपना उदार दृष्टिकोण दिखाने के चक्कर में विविध संकल्पनाओं को उनमें निहित सत्य की अनुभूति किये बिना ही अंधाधुंध अपनाते चले जाते है। इसकी परिणति आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल, क्षीण चेतना में होती है। यद्यपि मैं सभी आध्यात्मिक मार्गों का और सभी सच्चे आध्यात्मिक गुरुओं का प्रेमपूर्वक आदर करता हूँ, तथापि अप देख रहे हैं कि मैं अपने मार्ग और गुरुओं के प्रति अनन्यभाव से निष्ठावान हूँ।''

वे आगे कहते हैं, ''सभी सच्चे धर्म व्यक्ति को भगवान तक पहुँचाते हैं। आप तब तक खोज कीजिये जब तक

आपके मन को आकर्षित एवं सतुंष्ट करनेवाली आध्यात्मिक शिक्षा आपको प्राप्त नहीं हो जाती; परन्तु एक बार वह प्राप्त हो जाने के बाद किसी भी अन्य तत्व को अपनी निष्ठा को प्रभावित मत करने दीजिये। उसी पथ को अपना सम्पूर्ण ध्यान अर्पित कर दीजिये। अपनी सम्पूर्ण चेतना उसी में लगा दीजिये, तब आप जिन परिणामों को खोज रहे हैं वे आपको प्राप्त हो जायेंगे।''

निष्ठा के विषय में बोलते समय कभी-कभी गुरुदेव इस प्रकार उदाहरण देते थे : ''यदि आपको कोई रोग हो जाय तो आप डॉक्टर के पास जाते हैं और वह आपको उस रोग को दूर करने के लिये दवाई देता है। आप उस दवाई को घर ले जाते हैं और डॉक्टर के निर्देश के अनुसार उसका सेवन करते हैं। जब आपके कोई मित्र आप से मिलने आते हैं और आप के रोग के विषय में जान जाते हैं तो उन में से हर एक कह सकता है : 'ओह्! मैं इस रोग के विषय में सब कुछ जानता हूँ। तुम्हें अमुक-अमुक दवाई लेनी चाहिये।' इस प्रकार यदि दस लोग आपको दस अलग-अलग उपचार बतायेंगे और आप उन सब का प्रयोग करेंगे तो आप के रोग निवारण की संभावना संदेहास्पद ही होगी। यही तत्व गुरु की

शिक्षा में निष्ठा रखने के महत्व के पीछे भी है। आध्यात्मिक उपचारों में मिलावट मत कीजिये।''

ईश्वर के प्रति निष्ठा का अर्थ है अपने इधर-उधर भागते मन को, प्रेम को और प्रयासों को एकत्र करना और उन सब को अपने आध्यात्मिक लक्ष्य पर अनन्यभाव मे एकाग्र करना। निष्ठावान शिष्य ईश्वर के मार्ग पर द्रुतगति से आगे बढ़ता है। परमहंस जी गुरु की भूमिका को इस प्रकार समझाते थे : ''मैं आपकी अधिक सहायता कर सकता हूँ यदि आप अपनी शक्तियों को मिलावट के द्वारा क्षीण न कर लें। गुरु और उसके सहयोगियों एवं गतिविधियों के प्रति शत-प्रतिशत निष्ठा; उसके उपदेशों का स्वेच्छा से पालन (चाहे वह मौखिक हो या लिखित); आध्यात्मिक चक्षु में गुरु का मानस दर्शन; और अहैतुकी भक्ति से गुरु के साथ शिष्य तन्मय हो जाता है। जो लोग उसके साथ तन्मय हो जाते हैं उनकी आत्माओं में गुरु भगवान का मन्दिर स्थापित कर सकता है।'' केवल निष्ठा के द्वारा ही साधक भगवान की खोज में अपने सारे प्रयासों को एकाग्र कर सकता है। निष्ठावान शिष्य की चेतना दिव्य प्रेम से चुंबकित हो जाती है और अनिवार्यत: ईश्वर की ओर खिंच जाती है।

आज्ञापालन से विवेक का विकास होता है

गुरु के उपदेशों का आज्ञापालन या उसके मार्गदर्शन के आगे समर्पण गुरु-शिष्य संबंध का एक अन्य मूल नियम है। इसका इतना महत्त्व क्यों? अपने अहंकार और अहं जनित भ्रमों से ऊपर उठने के लिये मनुष्य का अपने से उच्चतर ज्ञान का आज्ञापालन सीखना अत्यावश्यक है। अगणित जन्म-जन्मांतरों में, जब से हम मानव जाति के सब से अज्ञानी लोग थे, तब से हमारे अहंकार ने अपनी मनमानी की है। उसने हमारे आचरण, हमारे दृष्टिकोण, हमारी पसन्द-नापसन्द की हमारी भावनाओं तथा इन्द्रिय-दासता के माध्यम से शासित किया है। अहंकार इच्छा शक्ति की अपनी दासी बनाकर चेतना की तुच्छ शरीर की सीमाओं में बांध देता है। नित्य परिवर्तनशील मनोदशाएँ, भावनाओं की तरंगें, नित्य बदलती पसन्द-नापसन्द मानव की चेतना को किसी-न-किसी भावना से निरन्तर हिंदोलती रहती हैं। आज उसे जो अत्यधिक पसन्द है वही उसे कल शायद बिल्कुल ही पसन्द नहीं आयेगा, और तब वह किसी और वस्तु की तलाश करने लगता है। चेतना की इस प्रकार की नित्य हिंदोलित अवस्था

मनुष्य को सत्य की अनुभूति से दूर रखती है।

शिष्य के शिष्यत्व में एक मूल आवश्यकता है उसकी अपनी अनुशासनहीन, अविवेकी इच्छा शक्ति को अपने गुरु के उपदेशों के आज्ञापालन में झुकाने की — अपनी अहं-केन्द्रित इच्छा शक्ति को गुरु की ईश्वर के साथ एक हुई इच्छा शक्ति के आगे समर्पित करने की क्षमता। जो शिष्य यह कर पाता है वह बन्धनकारी अहंकार की शक्तिशाली पकड़ को तोड़ देता है। जब परमहंस जी ने अपने गुरु स्वामी श्री युक्तेश्वर के आश्रम में उनके शिष्य के रूप में प्रवेश किया तब लगभग तुरन्त ही उनके गुरु ने उनसे यह निवेदन किया : "मुझे तुम्हें अनुशासित करने दो; क्योंकि इच्छा शक्ति का स्वातंत्र्य जन्मपूर्व और जन्मोपरान्त की आदतों के आदेशों अथवा अविवेकी मन के अनुसार बर्ताव करने में नहीं, बल्कि विवेक और स्वतन्त्र चयन के अनुरूप बर्ताव करने में निहित है। तुम यदि अपनी इच्छा को मेरी इच्छा में लीन कर दोगे तो मुक्त हो जाओगे।"

शिष्य अपनी इच्छा को गुरु की इच्छा में लीन कैसे करता है? प्रत्येक आध्यात्मिक पथ के अपने कुछ यम-नियम होते हैं। इसी अनुशासन को, यम-नियम को (विधि-निषेध), जिन्हें



श्री मृणालिनी माता

19

शिष्य की ईश्वर-खोज के लिये आवश्यक मानकर गुरु निर्धारित करता है, हिन्दू शास्त्रों में साधना कहा गया है। इन आदेशों के मनःपूर्वक पालन से और उचित आचरण द्वारा गुरु को प्रसन्न करने के प्रयास से शिष्य अपनी इच्छा और गुरु की इच्छा (जो उसके विवेकपूर्ण आदेशों में व्यक्त होती है) के बीच अहंकार से निर्माण की हुई प्रत्येक दीवार को ढहा देता है।

गुरु की इच्छा का पालन करते हुए शिष्य देखता है कि धीरे-धीरे वह अहंकार-जनित इच्छाओं, आदतों, एवं मनोभावों के बन्धनों से मुक्त हो रहा है और कभी अत्यन्त अशांत एवं चंचल रहनेवाला मन इधर-उधर भागना बंद कर एकाग्र होने की क्षमता विकसित करने लगता है। जब वह सही प्रकार से केन्द्रित होती है तो शिष्य की मानस-दृष्टि निर्मल होने लगती है। भ्रांतियों और विभ्रमों की परतों पर परतें उठती चली जाती हैं। अनगिनत गलत कार्य जो कभी उचित लगते थे परन्तु जिन्होंने केवल दुःख ही उत्पन्न किया, अचानक सत्य के चकाचौंध करने वाले प्रकाश में अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होने हैं। तब शिष्य *जान* जाता है क्या सही है, क्या सत्य है। तब वह अच्छे-बुरे की पहचान कर पाता है। परमहंस जी कहते थे कि समझदारी से कार्य

करने का अर्थ है जिस कार्य को जब हमें करना चाहिये तब उस कार्य को करना।

आध्यात्मिक पथ पर सफल होने के लिये भगवान के भक्त को विवेक विकसित करना ही होगा। अन्यथा जन्म-जन्मान्तरों में उसके साथ जुड़ती गयी प्रवृत्तियाँ, मनोदशायें, आदतें और भावनात्मक झुकाव उसे गलत दिशा में ले जाते ही रहेंगे।

जब तक शिष्य का विवेक पूर्णत: विकसित नहीं हो जाता तब तक गुरु के मार्गदर्शन के आगे समर्पण और उसके आदेशों का पालन ही शिष्य के लिये मुक्ति की एकमात्र आशा है। गुरु का विवेक ही उसे बचा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता (IV:36) में कहा गया है कि विवेक का बेड़ा सबसे बड़े पापी को भी भवसागर के पार ले जायेगा। गुरु द्वारा दी गयी साधना करता हुआ शिष्य अपना विवेक-रूपी भवतारक बेड़ा स्वयं ही बना लेता है।

शिष्य का आज्ञापालन मन:पूर्वक तथा सम्पूर्ण हृदय के साथ होना चाहिये। केवल मुख से गुरु की भक्ति करना और अपने अहंकार के निर्देशों के अनुसार व्यवहार करना मूर्खता है। आध्यात्मिक पथ पर जो अपने प्रयासों में धोखा देता है वही स्वयं नुकसान उठाता है।

जिन शिष्यों ने गुरुदेव से अनुशासन का अनुरोध किया उन्हें गुरुदेव ने यह अत्यंत सरल उपदेश दिया : "सदा ईश्वर एवं गुरु को प्रत्येक प्रकार से प्रसन्न करने के लिये प्रार्थना करो।" ये शब्द सम्पूर्ण साधना का सार प्रस्तुत करते हैं। फिर भी इसे सम्पन्न करना सरल नहीं है। भगवान और गुरु को प्रसन्न करने के लिये भगवान, गुरु और साधना-पथ के प्रति मात्र प्रेम और आदर से बढ़कर कुछ और चाहिये। यह प्रार्थना हृदय की गहराइयों से भी उभरे तो भी भगवान और गुरु को प्रसन्न करने के लिये अपने आप में पर्याप्त नहीं है। परमहंस जी प्रायः हम लोगों से कहते थे कि लोगों को ऊँचे-ऊँचे स्वर में ईश्वर की स्तुति करने या ईश्वर की जयजयकार करने सुनना उन्हें अच्छा नहीं लगता था, जैसे ईश्वर कोई स्तुति प्रिय स्त्री हो। वे कहते थे, "ऐसी बातों से ईश्वर प्रसन्न नहीं होते। भगवान हम सब के लिये और माया के अन्धकार में खोयी, दुःख उठाती अपनी सब सन्तानों के लिये रो रहे हैं।" भगवान और गुरु हम सब का केवल परम कल्याण चाहते हैं: इस संसार के विभ्रान्तकारी द्वन्द्व—स्वास्थ्य एवं रोग, सुख और दुःख—से मुक्ति और अपरिवर्तनीय ब्रह्म के नित्यनवीन आनंद में स्थिति।

इसलिये भगवान और गुरु को प्रसन्न करने का एकमात्र तरीका है उचित आचरण, जिससे वे हमें मुक्ति प्रदान कर सकें। नित्य उचित आचरण तभी संभव होता है जब साधक ईश्वर के माध्यम—गुरु—के आगे समर्पण कर उसकी आज्ञाओं का पालन करता है।

ईश्वर के प्रतिनिधि के आगे विनम्रता एवं आदर

योगदा सत्संग सोसाइटी/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के मन्दिरों में भगवान श्री कृष्ण, जीसस क्राइस्ट, हमारे परमगुरुजन महावतार बाबाजी, लाहिड़ी महाशय, स्वामी श्री युक्तेश्वर, तथा हमारे गुरुदेव श्री श्री परमहंस योगानन्द की छवियाँ लगायी रहती हैं। इस प्रकार हम उन्हें ईश्वर के प्रतिनिधियों के रूप में इस संसार में योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप शिक्षाओं को लाने के लिये श्रद्धा एवं भक्ति समर्पित करते हैं। आदर का सर्वोच्च स्वरूप है श्रद्धा, जो शिष्य को गुरु-शिष्य संबंध के माध्यम से ईश्वर-साक्षात्कार तक पहुँचाने का एक और दैवी नियम है।

आज संसार में ईश्वर या मानव के लिये लोगों में कितना कम आदर रह गया है! हमारे कई भटके हुए युवाजन बड़ों के लिये, सामाजिक प्रणाली के लिये और परिणामत: स्वयं अपने लिये आदर और सम्मान खो रहे हैं। जब आत्म-सम्मान खो जाता है तब अधोगति शुरू होती है। अपने लिये और दूसरों के लिये मन:पूर्वक आदर का मूल सब की दिव्य उत्पत्ति के ज्ञान में है। जो अपने को ज्वालारूपी परमात्मा के एक आत्मारूपी स्फुलिंग के रूप में पहचानता है वह यह भी जानता है कि उसी के समान दूसरे भी परमात्मा की अभिव्यक्ति हैं। आनंद और श्रद्धा से वह सब में स्थित उस एक परमात्मा को प्रणाम करता है।

गुरु के लिये ईश्वर-प्रतिनिधि के रूप में, और समस्त मानव जाति के लिये ईश्वर-छवि के रूप में आदर विकसित करने से साधक आध्यात्मिक रूप से विकसित होता है। गुरु के लिये आदर भाव से गुरु के माध्यम से ईश्वर के प्रति वह ग्रहणशील बनता है और इस ग्रहणशीलता से उसे अच्छे और उदात्त का ज्ञान होता है जो अपने आप भगवान और गुरु में उसकी श्रद्धा को बढ़ाता है। जब कोई अंतत: अपने हृदय में और बाह्य व्यवहार में भी अपने अंहकार से अन्य किसी तत्व

के सामने नतमस्तक होना सीखता है तो उसके अन्तर में परिवर्तन आना शुरू होता है; उसमें विनम्रता विकसित होती है। अहंकार आत्मा के, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के, चारों ओर एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर देता है; उस दीवार को तोड़ने की शक्ति केवल विनम्रता में है।

आप में से जिन्होंने *योगी कथामृत* पढ़ी है उन्हें स्मरण होगा कि जब लाहिड़ी महाशय ने कुंभ मेले में महावतार बाबाजी को एक साधारण साधु के चरण धोते देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। वे कह उठे "गुरुजी! आप यहाँ क्या कर रहे हैं?"

बाबाजी ने उत्तर दिया, "मैं इस साधु का चरण प्रक्षालन कर रहा हूँ। इसके बाद मैं इनके बर्तन धोऊँगा। मैं ईश्वर को अन्य सभी गुणों से अधिक प्रिय और सभी गुणों में महानतम गुण सीख रहा हूँ—विनम्रता।"

विनम्रता वह ज्ञान है जो यह स्वीकार करता है कि दूसरों में स्थित ईश्वर हम से बड़ा है। अधिकांश लोग अपने अहं-व्यक्तित्व की पूजा करते हैं। परन्तु इसके विपरीत, जब शिष्य महत्तर सत्ता के आगे झुकता है और उस सत्ता का साक्षात्कार करने के लिये उसका माध्यम मानकर गुरु के सामने झुकता है, जिसकी सहायता वह उस साक्षात्कार के लिये लेना

चाहता है, तो उसमें विनम्रता जागती है जो अहंकार की बंदिस्त करने वाली दीवार को तोड़ने के लिये आवश्यक है। इसके साथ ही, वह अपने भीतर उस महत्तर सत्ता की नित्य-विस्तारशील दिव्य चेतना को उमड़-उमड़ कर उभरते अनुभव करता है।

विनम्र मनुष्य वास्तव में शांत और आनंद में निमग्न होता है। वह मानवीय व्यवहार और मानवीय प्रेम की चंचलता से अप्रभावित रहता है। वह मानवीय सहवास की अनित्यता से या इस संसार के पद और सुरक्षितता की क्षणभंगुरता से आहत नहीं होता। स्वार्थ और स्व-पूजा के सारे विचार विनम्र मनुष्य में कम होते-होते अंततः समाप्त हो जाते हैं। शास्त्र कहता है: "जब यह "मैं" मर जायेगा तभी मैं जानूँगा मैं कौन हूँ।" जब अहंकार नष्ट हो जाता है तभी भीतर में निद्रिस्त अवस्था में बसी ईश्वर की प्रतिच्छवि—आत्मा—अंततः जाग कर अपने आप को व्यक्त कर सकती है। तब साधक अपने जीवन में आत्मा के सब गुणों को व्यक्त करने लगता है और माया के अज्ञान से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। माया वह विश्व मोहिनी है जो ईश्वर के संसार नाट्य में भूमिकाएँ निभाने वाले सभी जीवों पर छायी हुई है।

तो इसलिये याद रखिये: आदर से श्रद्धा उत्पन्न होती है; श्रद्धा के पीछे विनम्रता चली आती है। जैसे-जैसे साधक इन गुणों को विकसित करता है वैसे-वैसे वह अपनी आध्यात्मिक खोज के लक्ष्य की ओर शीघ्र गति से अग्रसर होता है।

विश्वास या निष्ठा

गुरु-शिष्य संबंध शिष्य में विश्वास या निष्ठा को पूर्णता प्रदान करता है। जिस जगत में हम रहते हैं वह सापेक्षता पर आधारित है, इसीलिये अस्थिर है। हम किसी दिन भी यह नहीं जान सकते कि उस दिन हमारे शरीर स्वस्थ रहेंगे या अस्वस्थ हो जायेंगे। हम यह नहीं जान सकते कि हमारे प्रियजन जो आज हमारे साथ हैं, वे कल भी रहेंगे या इस संसार से उठा लिये जायेंगे। हम नहीं जानते जो शांति आज है वह कल भी रहेगी या किसी युद्ध द्वारा ध्वस्त कर दी जायेगी। जानकारी का यह अभाव मनुष्य में असुरक्षितता की बलवान भावना पैदा कर देता है। इसीलिये आज संसार में इतने मनोरोग और अशांति व्याप्त है। यही कारण भी है कि मनुष्य भले-बुरे का विचार किये बिना सांसारिक संपत्ति के

पीछे पड़ा हुआ है। उसे अधिकाधिक ऊँचा पद चाहिये, अधिकाधिक बड़ा नाम और ख्याति चाहिये, अधिकाधिक धन चाहिये। उसे और बड़ा घर चाहिये, अधिक कपड़े चाहिये, नयी कार चाहिये। वह सोचता है कि इस भयावह, अनिश्चित जगत में इन चीजों से वह सुरक्षित हो जायेगा। वह यःकश्चित् वस्तुओं को पकड़कर उन्हीं को अपना भगवान बना लेता है।

सच्चा विश्वास सत्य और वास्तविकता के अनुभव से, सृष्टि को चलानेवाली ईश्वरीय शक्तियों के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा उनकी समर्थता में अटूट निष्ठा से उत्पन्न होता है। मानव असुरक्षित है क्योंकि उसमें यह विश्वास ही नहीं है। जीसस क्राइस्ट ने कहा था, "मैं तुमसे सच कहता हूँ, यदि तुम में राई के एक दाने के बराबर भी विश्वास हो और तुम इस पहाड़ से कहोगे यहाँ से हटकर तुम उस जगह चले जाओ तो वह हट जायेगा, और तुम्हारे लिये कुछ भी असंभव नहीं होगा" (बाइबिल : मत्ती रचित सुसमाचार 17:20)।

हम अपने जीवन में विश्वास प्रदर्शित करना शुरू नहीं कर सकते क्योंकि हमारे लिये "अनदेखी बातों" पर विश्वास रखना कठिन होता है। यह वास्तविकता है कि जब तक

मनुष्य किसी ऐसी शक्ति को अनुभव नहीं कर लेता जो उसे समय आने पर धोखा न दे, तब तक उसे विश्वास नहीं हो सकता। गुरु–शिष्य सम्बन्ध साधक के लिये इस आवश्यकता को पूरा करता है। शिष्य गुरु को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में पहचान लेता है : गुरु ईश्वरीय सिद्धान्तों के अनुसार जीता है, वह अपने जीवन में ईश्वर के सत्य को प्रकट करता है; वह ''अनदेखी बातों'' का प्रकट रूप होता है।

गुरु अहैतुकी दिव्य प्रेम का प्रकटीकरण भी होता है। वह एक ऐसा व्यक्ति होता है जो, हम चाहे कुछ भी क्यों न कर लें, हमारे लिये अपने प्रेम में कभी अंतर नहीं आने देता। तब हम यह जान जाते हैं इस प्रेम पर विश्वास किया जा सकता है। और जैसे–जैसे दिन–पर–दिन, वर्ष–प्रति–वर्ष हम इस अविचल प्रेम को प्रकट होते देखते हैं, वैसे–वैसे गुरु के प्रेम में हमारी निष्ठा बढ़ती जाती है। हम यह जान जाते हैं कि भगवान ने हमारे पास एक ऐसे व्यक्ति को भेज दिया है जो पल–पल, दिन–प्रति–दिन, वर्ष–प्रति–वर्ष हमारी देखभाल करेगा, जो कभी भी हमें अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करेगा। यही वह गुरु होता है जिस में हमारी निष्ठा निरन्तर विकसित होती चली जाती है क्योंकि हम पहचान लेते हैं कि वह

नित्य, अपरिवर्तनीय परमात्मा के साथ एक है।

गुरु–शिष्य संबंध में शिष्य की गुरु में पूर्ण निष्ठा होना अत्यावश्यक है। गुरु शिष्य से कहता है, ''मेरे वत्स! यदि तुम ईश्वर को जानना चाहते हो, यदि तुम्हें उनके पास वापस जाने की शक्ति चाहिये, तो तुम्हें उसमें विश्वास रखना ही होगा जिसे तुम नहीं देख सकते, जिसका तुम अभी स्पर्श नहीं कर सकते, जिसे इन्द्रियानुभूति द्वारा जाना नहीं जा सकता। तुम्हें उस अदृश्य परमसत्ता में विश्वास रखना ही होगा क्योंकि तुम्हारी सीमित मानवीय इन्द्रियों को जो अभी वास्तव लग रहा है, उस सब के पीछे वही एकमात्र सत्य है।''

शिष्य की विश्वास या निष्ठा विकसित करने में सहायता करने के लिये गुरु कहता है, ''मेरा अनुसरण करो; यदि आवश्यक हो तो अंधानुकरण भी।'' अहंकार हमारी दृष्टि को अंधी बना देता है परन्तु गुरु की दृष्टि स्वच्छ होती है। उसके ज्ञानचक्षु सदा खुले रहते हैं। उसके लिये कल, आज, और कल में कोई अन्तर नहीं होता। उसकी परम अनुभूति में अतीत, वर्तमान, और भविष्य सभी एक समान होते हैं। परमहंस जी हमेशा कहते थे, ''ईश्वर की चेतना में काल नहीं है, देश नहीं है; सब कुछ एक अनंत वर्तमान में घटित हो

रहा है। मानव अनंत की शृंखला को एक कड़ी मात्र देखता है, और फिर भी सोचता है कि वह सब कुछ जानता है।'' गुरु, जो भगवान के साथ एकरूप होता है और जिसकी चेतना साधारण मानवीय मन को धूमिल करने वाली भ्रांतियों से मुक्त रहती है, अनंत को निहारता है। वह अपने शिष्य की वर्तमान स्थिति देखता है, वह देखता है कि शिष्य क्या बनने का प्रयास कर रहा है, किन-किन संघर्षों से पूर्व जन्मों में पहले ही गुज़र चुका है, और उसके आगे क्या बाधाएँ खड़ी होने वाली हैं। मात्र गुरु ही कह सकता है, ''यह मार्ग ईश्वर तक पहुँचा देगा।'' शिष्य को यदि अंधानुकरण भी करना पड़े तो भी उसका मार्ग सुरक्षित और निश्चित है।

साधना के शुरू से ही, चाहे गुरु की शिक्षा का कोई पहलू उसे समझ में नहीं भी आ रहा हो, तब भी, शिष्य को पूर्ण विश्वास एवं निष्ठा से अपने गुरु के उपदेशों को सुनना और उनका पालन करना चाहिये। जब कोई शिष्य गुरुदेव के साथ उनके दिये हुए निर्देश के बारे में तर्क करने का प्रयास करता तो गुरुदेव कभी-कभी इतना ही कह देते थे: ''मेरे पास तुम्हारा तर्क सुनने के लिये समय नहीं है। बस मैंने जैसा कहा है वैसा करो।'' शुरू में शिष्य को यह न्यायविसंगत लगता

था। परन्तु जिन्होंने बिना शंका किये उनके निर्देशों का पालन किया उन्होंने इस प्रकार के अनुशासन के वरदान देखे हैं। गुरु की शिक्षाओं का अनुसरण कीजिये क्योंकि वह देखता है, वह जानता है। जब मनोयोग और उत्साह से उसके उपदेशों का पालन करेंगे तो वह आंतरिक रूप से आप का मार्गदर्शन करेगा। जब गुरु में विश्वास होता है तब उस विश्वास की सहायता से गुरु अपने शिष्य में निष्ठा की सर्वसामर्थ्यशाली शक्ति जगा सकता है।

गुरु के रूप में ऐसा व्यक्ति प्राप्त कर जो हमें ईश्वर का अभयदान दिला सके, जिसका हाथ हम निश्चिन्त होकर थाम सकें इस विश्वास के साथ कि वह हमें माया के अंधकार से सुरक्षित बाहर ले जायेगा, हम में धीरे-धीरे वह निष्ठा जागने लगती है जो भगवान को जानने के लिये आवश्यक है।

गुरु की सहायता

गुरु अपने शिष्य की अनगिनत प्रकारों से सहायता करता है। और उन सब में शायद सबसे बड़ी सहायता यह करता है कि वह ईश्वरीय गुणों को स्वयं प्रदर्शित करने के माध्यम से शिष्य को उन गुणों को विकसित करने की अंत:प्रेरणा देता

है। वह "मूक ईश्वर की आवाज़"* होता है। वह सर्वोच्च ज्ञान और शुद्धतम प्रेम का अवतार होता है। वह ईश्वर को प्रतिबिंबित करने वाले आत्मा के गुणों का मूर्त रूप होता है। वह मार्ग और लक्ष्य, दोनों का प्रतीक है। क्राइस्ट ने कहा था, "मैं मार्ग हूँ, सत्य हूँ, जीवन हूँ" (बाइबिल: यूहन्ना 14:6)। गुरु ही मार्ग है। अपने शिष्यों को वह जो साधना देता है उसका सबसे बड़ा उदाहरण स्वयं बनकर वह सत्य के परम सिद्धान्तों को प्रदर्शित करता है और उनका ईश्वर को जानने में कैसे प्रयोग किया जा सकता है यह भी सिखाता है। वह शिष्य को उस मार्ग का अनुसरण करने में आध्यात्मिक प्रेरणा और बल प्रदान करता है जो उसे ईश्वर में अनंत जीवन उपलब्ध करा देता है।

नौसिखिया शिष्य शायद यह सोच सकता है कि चूँकि गुरु ईश्वर का रूप है, इसलिये शिष्य उसका पूर्ण अनुकरण नहीं कर सकता। ऐसे एक शिष्य ने, जिसे परमहंस योगानन्द जी ने ऐसा कुछ करने के लिये कहा था जो वह सोचता था

---

* योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप द्वारा प्रकाशित, *Whispers from Eternity* में परमहंस योगानन्द द्वारा अपने गुरु स्वामी श्री युक्तेश्वर जी के लिये लिखी गई श्रद्धांजलि से उद्धृत।

कि उसकी क्षमता से परे है, यह कह कर उनके निर्देश का विरोध किया कि वह उसे नहीं कर पायेगा। परमहंस जी ने तुरन्त दृढ़ स्वर में कहा, ''*मैं* इसे कर सकता हूँ!''

''परन्तु गुरुदेव! *आप* योगानन्द हैं। आप ईश्वर के साथ एक हैं।'' शिष्य ने आशा की थी कि गुरुदेव कहेंगे, ''हाँ! तुम ठीक कहते हो। तुम जितना चाहो समय लो। अंत में सफल हो ही जाओगे।''

परन्तु गुरुदेव ने कहा, ''*तुम में* और एक योगानन्द में केवल इतना ही अन्तर है; *मैंने* प्रयास किया, अब *तुम्हें* प्रयास करना है!''

जिन शिष्यों को गुरुदेव प्रशिक्षित करते थे उनसे वे दो उत्तर कभी भी स्वीकार नहीं करते थे: ''मैं नहीं कर सकता,'' और ''मैं नहीं करूँगा।'' वे कहते थे कि साधक को प्रयास करने का इच्छुक होना ही चाहिये।

परमहंस जी प्राय: कहते थे, ''जीवन एक वेगवती नदी की भाँति है। जब आप ईश्वर की खोज करने लगते हैं तब आप उन सांसारिक प्रवृत्तियों के बलशाली प्रवाह की विपरीत दिशा में तैरने का प्रयास करते हैं जो आपके मन को सीमित सांसारिक इन्द्रिय चेतना की ओर खींचती रहती हैं। आपको

प्रतिपल ''प्रवाह के विरुद्ध'' तैरते रहने का प्रयास करना ही होगा। यदि आप प्रयास को ढीला छोड़ देंगे तो माया का बलशाली प्रवाह आप को बहा ले जायेगा। आपका प्रयास निरन्तर होना चाहिये।''

वेद शास्त्र कहते हैं कि अपनी आत्मा को ईश्वर तक वापस लाने के लिये जितनी शक्ति आवश्यक है उसमें शिष्य का प्रयास केवल पचीस प्रतिशत हिस्सा ही होता है। दूसरा पचीस प्रतिशत गुरु के आशीर्वाद प्रदान करते हैं। अन्य पचास प्रतिशत ईश्वर की कृपा प्रदान करती है। इस प्रकार शिष्य के प्रयास के बराबर ही गुरु का प्रयास होता है, और ईश्वर गुरु एवं शिष्य दोनों मिलकर जितना करते हैं उतना स्वयं करता है। यद्यपि शिष्य का प्रयास केवल एक चतुर्थांश ही होता है, तथापि उसे अपने हिस्से का प्रयास पूर्ण करना चाहिये, न कि पहले ईश्वर और गुरु के आशीर्वादों की प्रतीक्षा। शिष्य जब अपने हिस्से का प्रयास पूर्ण करने को जी तोड़ चेष्टा करता है तब गुरु और ईश्वर के आशीर्वाद उसके साथ अपने आप ही होते हैं।

गुरु शिष्य के बहुत-से बुरे कर्म* भी अपने ऊपर लेकर

*अतीत या पिछले जन्मों में किये गये कर्मों के परिणाम; संस्कृत के कृ धातु से, जिसका अर्थ है ''करना''। शब्दावली देखें।

शिष्य की सहायता करता है। वह ईश्वर को आज्ञा से सम्पूर्ण मानवजाति के सामूहिक बुरे कर्मों का कुछ हिस्सा भी अपने ऊपर ले सकता है।

"मानव-पुत्र यहाँ सेवा पाने के लिये नहीं, बल्कि सेवा करने के लिये और अनेकों के लिये अपने जीवन से उनका उधार-मूल्य चुकाने के लिये आया है" (बाइबिल : मत्ती रचित सुसमाचार 20:28)। जीसस ने अपने शिष्यों के व्यक्तिगत बुरे कर्मों और मानव जाति के सामूहिक बुरे कर्मों के कुछ हिस्से को अपने ऊपर लेने के लिये अपने शरीर को सूली पर चढ़ा जाने दिया। हम लोगों ने प्राय: परमहंस योगानन्द जी में इस क्षमता को प्रदर्शित होते देखा। कभी-कभी जिस रोग से उन्होंने किसी को मुक्त किया हो वह रोग उनके अपने शरीर में कुछ समय के लिये प्रकट हो जाता था। कोरिया के युद्ध के दौरान एक बार समाधि की अवस्था में वे युद्ध भूमि में घायल और मरनेवाले सैनिकों की व्यथा को अपने ऊपर लेकर पीड़ा से कराह उठते थे।

परिपूर्णता का दर्पण

गुरु शिष्य के चरित्र को प्रतिबिंबित करनेवाला दर्पण भी

होता है। जब साधक कहता है, ''मुझे भगवान चाहिये,'' तो वह परिपूर्णता के मार्ग पर चल पड़ता है, क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये उसे अपनी अन्तर्निहित आत्म-परिपूर्णता को पुनः अभिव्यक्त करना ही होगा। उसे अपने अहंकार को तथा उसके विचारों एवं कार्यों पर पड़नेवाले अहंकार के प्रभाव को मिटाना ही होगा। यदि शिष्य गुरु-रूपी दर्पण के सामने श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, आज्ञाकारिता एवं समर्पण के साथ खड़ा हो जाये तो वह दर्पण उसके लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में रुकावट बनने वाली उसकी समस्त व्यक्तिगत दुर्बलताओं तथा गुण-दोषों को उसके सामने प्रकट कर देगा।

परमहंस जी हमारे दोषों को देखते थे और स्पष्ट शब्दों में हमें बता भी देते थे, परन्तु वे कभी भी हमारे दोषों पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं करते थे। केवल जब उन्हें किसी शिष्य को आध्यात्मिक भलाई के लिये उसे प्रताड़ित करना पड़ता था तभी वे उसके दोषों का उल्लेख करते थे। मुख्यतः वे प्रत्येक शिष्य के केवल अच्छे गुणों को ओर ही उन्मुख होते थे। जब वे किसी को डाँटते थे तो अंत में कहते थे : ''अपने दोष का प्रकार और उसके कारण एवं परिणाम को जानने के लिये अपना अंतर्परीक्षण करो, फिर उसे मन से निकाल दो।

दोष का चिंतन मत करो। बल्कि उसके विपरीत गुण को विकसित और व्यक्त करने पर मन को केन्द्रित करो।''

इसलिये, यदि किसी का मन शंकाओं से घिर जाय तो उसे विश्वास या निष्ठा का अभ्यास करने का प्रयास करना चाहिये। यदि कोई अशांत है तो उसे शांति के विचार मन में दृढ़ता से दोहराने चाहिये और शांत रहने का अभ्यास करना चाहिये : ''यदि आपमें कोई सद्‌गुण नहीं है तो उसके होने की कल्पना ही करो।''*

गुरु का अनुसरण कैसे करें

शिष्य को अपने गुरु के उदाहरण पर चलते हुए और उसके द्वारा दी गयी साधना निष्ठापूर्वक करते हुए अपने गुरु का अनुसरण करना चाहिये। जब शिष्य शुरू में प्रयास करता है तब वह ठीक से अनुसरण नहीं कर पाता, परन्तु उसे उस में सफल होने तक निरन्तर प्रयास करते ही जाना चाहिये।

योगदा सत्संग पथ पर चलने वालों के लिये गुरु का अनुसरण करने का अर्थ है प्रतिदिन के वैज्ञानिक ध्यान को

---

*प्रसिद्ध अंग्रेज़ी नाटक *हैमलेट* से उद्धृत।

भक्ति से सराबोर कर देना और उस ध्यान को सम्यक कर्म से संतुलित करना। जैसा कि परमहंस जी ने हमें श्रीमद्भगवद्गीता से सिखाया है, सम्यक कर्म—अर्थात् ईश्वर का स्मरण दिलाने वाली कार्यशीलता—में फल की इच्छा त्याग कर कार्य किया जाता है जिसमें अपने लिये किसी प्राप्ति की कोई इच्छा नहीं होती, केवल भगवान को प्रसन्न करने की इच्छा होती है।

कुछ लोग सोचते हैं कि गुरु के साथ रहने का अर्थ है सदा गुरु के चरणों में बैठकर समाधि के परमानंद में निमग्न रहते हुए गुरु के अधरों से झरने वाला ज्ञानामृत पान करते रहना। हम लोगों को हमारे गुरुदेव परमहंस योगानन्द जी से जो प्रशिक्षण मिला वह तो ऐसा नहीं था। हम व्यग्रता से कार्यशील रहते थे और कभी-कभी सेवा में पूर्ण व्यस्त। भगवान और मानवजाति की सेवा में कार्य करते हुए गुरुदेव कभी थकते नहीं थे; अपने उदाहरण से उन्होंने हमें पूर्ण समर्पित होना सिखाया। आध्यात्मिक होने का अर्थ ही है स्व और स्वार्थ को मिटा देना। यदि गुरुदेव रात भर काम करते तो हम भी रात भर काम करते। मानवजाति के लिये गुरुदेव का अपार प्रेम उनके असीम सेवा कार्य में व्यक्त होता था।

और फिर भी वे हमें इस कार्यशीलता को ईश्वर-सम्पर्क और ईश्वर-साक्षात्कार कराने वाले गहन ध्यान के साथ संतुलित होने का नित्य स्मरण कराते रहते थे।

''शिक्षाएँ ही गुरु होंगी''

परमहंस जी कहते थे, ''जब मैं चला जाऊँगा तब ये शिक्षाएँ ही गुरु होंगी। जो भी सेल्फ-रियलाइजेशन [योगदा सत्संग] पथ का अनुसरण करेगा और इन शिक्षाओं का अभ्यास करेगा, वह मेरे साथ और ईश्वर के साथ और इस कार्य को भेजने वाले परमगुरुओं* के साथ तन्मयता स्थापित कर लेगा।'' सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप/योगदा सत्संग शिक्षाओं में ईश्वर के मार्ग पर दृढ़ता से चलने के लिये जो भी मार्गदर्शन और प्रेरणा आवश्यक है वह सब समाहित है। प्रत्येक योगदा सत्संगी को गुरुदेव के उपदेश के अनुसार जीने का निरन्तर प्रयास करना चाहिये। उनकी शिक्षाएँ हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू के लिये उपयुक्त हैं। ये शिक्षाएँ हमारे लिये केवल एक दर्शन

* स्वामी श्री युक्तेश्वर (परमहंस योगानन्द के गुरु), लाहिड़ी महाशय (स्वामी श्री युक्तेश्वर के गुरु), और महावतार बाबाजी (लाहिड़ी महाशय के गुरु)

या तत्वज्ञान बनकर नहीं रह जानी चाहिये बल्कि हमारे जीने का तरीका बन जानी चाहिये। जो लोग परमहंस जी की शिक्षाओं के अनुसार जीने हैं उन्हें यह सत्य सन्देहातीत रूप से ज्ञात हो गया है कि गुरु और शिष्य के बीच कभी वियोग नहीं होता। गुरु चाहे शरीर में हो या इस जगत को छोड़कर किसी सूक्ष्म लोक या कारण जगत या उससे भी परे ब्रह्म में वास कर रहा हो, उसके साथ तन्मय होनेवाले शिष्य के वह सदा ही समीप रहता है। यही तन्मयता मुक्ति प्रदान करती है। ईश्वर के साथ एक होने के कारण सद्गुरु सर्वशक्तिमान होता है। अपने शिष्य की ईश्वर-साक्षात्कार में सहायता करने के लिये वह स्वर्ग से नीचे आ सकता है। यह आध्यात्मिक सहायता गुरु का ईश्वरीय और अनंत आश्वासन है। वह शिष्य सचमुच अत्यंत भाग्यशाली है जिसे सच्चा गुरु मिल जाता है। उसका भाग्य और भी बड़ा है यदि वह गुरु की शिक्षाओं का आज्ञाकारिता और सच्चे समर्पण के साथ अनुसरण करते हुए परिपूर्णता प्राप्त करने का अथक प्रयास करता है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध चिरंतन है

गुरु सर्वव्यापी है। उसकी सहायता, उसका मार्गदर्शन

और उसकी शिक्षाएँ केवल उसके इस जगत में रहने तक ही नहीं बल्कि सदासर्वदा के लिये विद्यमान रहती हैं। हमारे गुरुदेव प्रायः कहते थे : ''मेरे जीवनकाल में अनेक सच्चे साधक आये हैं। मैं उन्हें पिछले जन्मों से जानता हूँ। अभी और अनेक आने बाकी हैं। मैं उन्हें भी जानता हूँ। वे मेरे शरीर छोड़ने के बाद आयेंगे।'' सच्चे साधकों के लिये गुरु की सहायता गुरु के देह त्याग के साथ समाप्त नहीं हो जाती। अगर ऐसा हो तो वह सद्‌गुरु नहीं कहा जा सकता। सद्‌गुरु की चेतना अनंत होती है : नित्य जागृत, नित्य तन्मय, जीवन-मृत्यु के खुलने-बंद होने वाले द्वारों से अखण्डित। उसे अपने शिष्य का ज्ञान सदा रहता है और उसके साथ उसका संपर्क भी सदा बना रहता है।

एक दिन जब परमहंस जी उस समय के बारे में हमें बता रहे थे जब वे हमारे साथ देह रूप में नहीं होंगे तब उन्होंने गुरु के चिरंतन दायित्व का उल्लेख किया था : ''यह हमेशा याद रखो, जब मैं शरीर छोड़ दूँगा तब मैं इस आवाज़ से तुम लोगों के साथ नहीं बोल सकूँगा, पर मुझे तुम्हारे मन में से गुज़रने वाला प्रत्येक विचार और तुम जो भी करोगे वह प्रत्येक कार्य ज्ञात होगा।''

जैसे ईश्वर सर्वव्यापी है वैसे ही गुरु भी सर्वव्यापी होता है। प्रत्येक शिष्य के मन और हृदय में क्या है इसका ज्ञान गुरु को होता है। परमहंस जी कहते थे, "जो नहीं चाहते उनके जीवन में मैं कभी भी प्रवेश नहीं करता, परन्तु जिन्होंने मुझे यह अधिकार दे दिया है और जो मेरा मार्गदर्शन चाहते हैं, उनके साथ मैं सदा सर्वदा रहता हूँ। मेरी चेतना उनके साथ तन्मय रहती है; उनकी चेतना में उठने वाले छोटे-से-छोटे कम्पन का भी मुझे ज्ञान होता है।"

जब गुरुदेव देह रूप में हमारे साथ रहते थे तब भी वे सदा ही हमें कहते रहते थे कि हम उनके व्यक्तित्व पर अवलम्बी न बनें, बल्कि उनके मन और चैतन्य के साथ तन्मय होने का प्रयास करें। उन्हें हमारे विचारों और हमारी चेतना की अवस्थाओं से ही मतलब था। इसके परिणामस्वरूप हमारी चेतनाओं में जो तन्मयता स्थापित हुई उसके कारण अब इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि गुरुदेव शरीर में हैं या नहीं हैं। वे सदा ही हमारे साथ हैं।

इस पचासवीं वर्षगाँठ सम्मेलन में यहाँ हमारे बीच संसार के कई देशों से आये सैकड़ों लोग ऐसे हैं जो परमहंस जो

से उनके जीवनकाल में नहीं मिले। और फिर भी देखिये कैसे आप में से प्रत्येक अपनी आध्यात्मिक खोज में गुरुदेव की शिक्षाओं से लाभान्वित हुये हैं! उनके आशीर्वाद आप को प्राप्त हो गये क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं और क्योंकि आपने अपनी भक्ति, उनकी शिक्षाओं के अभ्यास और उनके द्वारा स्थापित की हुई संस्था के प्रति अपनी निष्ठा से अपने आप को उनके प्रति ग्रहणशील बनाया। इन सत्कर्मों ने शिष्य को, अर्थात् आपको, गुरु के साथ, अर्थात परमहंस योगानन्द जी के साथ गहरी आध्यात्मिक तन्मयता प्रदान की है।

गुरु दीक्षा

जब शिष्य गुरु से या गुरु द्वारा नियुक्त किसी माध्यम से दीक्षा प्राप्त करता है तो ईश्वर के आशीर्वाद के साथ औपचारिक गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। दीक्षा के दौरान गुरु और शिष्य में परस्पर अहैतुकी प्रेम और निष्ठा का आदान-प्रदान होता है; एक अनुबंध बन जाता है जिसमें शिष्य गुरु को स्वीकार कर उसका निष्ठापूर्वक अनुसरण करने की शपथ लेता है, और गुरु शिष्य को ईश्वर तक पहुँचा देने का वचन देता है।

दीक्षा का एक हिस्सा होता है गुरु का शिष्य को कोई आध्यात्मिक विधि प्रदान करना, जो उसकी मुक्ति का साधन बनता है, जिसे शिष्य मन:पूर्वक, कर्मिष्ठता से अभ्यास करने का वचन देता है। योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया में दीक्षा का अर्थ है क्रिया योग की विधि प्रदान करना, जो विधिवत् औपचारिक समारोह में किया जाता है, या यदि शिष्य के लिये यह संभव न हो तो अनौपचारिक रूप से उसे इस विधि का ज्ञान कराया जाता है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध के ईश्वरीय आशीर्वाद के बिना क्रिया योग जैसी अत्यंत शक्तिशाली और प्रभावी विधि के अभ्यास में भी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक की न्यूनता रह जाती है। किसी साधक को शिष्य रूप में स्वीकार करने से पहले कुछ शर्तों को गुरु निर्धारित करता है जिनका पूरा क्रिया जाना आवश्यक होता है। इसलिये दीक्षा इस प्रकार ही ग्रहण करनी चाहिये जिसमें ये शर्तें पूरी हों ताकि शिष्य गुरु के साथ सीधे जुड़ जाय। तभी इस सम्बन्ध की आध्यात्मिक शक्ति साधक के जीवन में कार्यरत होती है।

भारत के महान संत कबीर ने गुरु की महिमा इन शब्दों में गायी है :

ये तन विष की बेल री, गुरु अमृत की खान॥
शीष दिये जो गुरु मिलै, तो भी सस्ता जान॥

बिनु जिभ्या गावै गुन रसाल।
बिनु चरनन चालै अधर चाल॥
बिनु कर बाजा बजै बेन।
निरखि देखि जहं बिना नैन॥
जहं चंद सुर नहीं आदि अंत।
तहं कबीर गावै बसंत॥

गुरु बिन दाता कोइ नहीं, जग माँगनहारा।
तीनि लोक ब्रहमंड में, सब के भरतारा।

कहै कबीर जाकै मस्तकी भाग।
सभ परिहरि ताकौं मिलै सुहाग॥*

---

* यह शरीर विष की बेल है, गुरु अमृत की खान है। सिर देने से भी यदि गुरु मिल सकता है तो यह भी सस्ता सौदा है।

मैंने गुरु से ही सीखा है जीभ के बिना (ईश्वर के) मधुर गुण गाना, पाँवों के बिना चलना, हाथों के बिना बाजा बजाना, आँखों के बिना देखना। मैं (गुरु की सहायता से) उस लोक (स्थिति) में आ गया हूँ जहाँ न रात (चंद्र) होती है न दिन (सूरज) होता है, जहाँ न कोई शुरुआत (आदि) है न अंत है।

इस जग में गुरु के अलावा और कोई दाता नहीं है, सारा जग स्वयं भिखारी है। तीनों लोकों में केवल गुरु ही सब का स्वामी है जो सब को हर चीज दे सकता है।

कबीर कहते हैं, जिसके भाग्य में होता है उसी को (गुरु प्राप्ति का) यह अनुपम सौभाग्य मिलता है।



लेखिका का परिचय

श्री श्री परमहंस योगानन्दजी की निकट शिष्या और परमहंस जी द्वारा अपना योगदा सत्संग/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप का कार्य आगे चलाने के लिये चुने गये लोगों में से एक रहीं श्री मृणालिनी माता ने 1966 से सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप की उपाध्यक्ष्या के पद पर रहकर संस्था की सेवा की है।

1945 में सैन डिएगो स्थित सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप टेम्पल में भावी मृणालिनी माता पहली बार परमहंस योगानन्द जी से मिलीं। तब वे 14 वर्ष की थीं। इसके कुछ महीने पश्चात् ईश्वर की खोज एवं सेवा करने की

उनकी इच्छा वास्तविक परिणाम में बदल गयी जब अपने माता-पिता की अनुमति से उन्होंने श्री योगानन्द के एन्सीनीटास, कैलिफोर्निया, यू. एस. ए. स्थित आश्रम में सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप संन्यास परंपरा की संन्यासिनी के रूप में प्रवेश किया।

तब से लेकर अपनी महासमाधि (1952) तक के वर्षों में परमहंस योगानन्द जी ने दिन-प्रति-दिन इस संन्यासिनी की आध्यात्मिक तैयारी पर विशेष ध्यान दिया। शुरू से ही परमहंस जी ने इन्हें उस कार्य के लिये तैयार करना शुरू किया जिसके लिये उन्होंने इन्हें चुना था : योगदा सत्संग पाठों एवं अन्य लेखों, प्रतिलिखित प्रवचनों तथा शास्त्रों पर परमहंस जी के भाष्यों का संपादन एवं उनका प्रकाशन। मृणालिनी माता (इस नाम का संबंध कमल से है जिसे भारत में पवित्रता एवं आध्यात्मिक उन्नयन का प्रतीक माना जाता है) अनेक वर्षों से सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के पुस्तक-पत्रिकाओं की मुख्य संपादिका के रूप में सेवा कर रही हैं। परमहंस जी के 150 से अधिक प्रवचन उनके निर्देशन में छप चुके हैं जिनमें दो प्रवचन संग्रह शामिल हैं। इसके अलावा परमहंस जी की कविताओं एवं प्रेरक लेखों

के कई संग्रह भी उन्होंने ही प्रकाशित किये हैं। कई बड़े ग्रन्थों पर अभी वे कार्य कर रहीं हैं।

मृणालिनी माता ने भारत में चलने वाले श्री योगानन्द के कार्य का निर्देशन करने के लिये यहाँ के कई दौरे किये और यहाँ के कई प्रमुख शहरों में परमहंस जी की शिक्षाओं पर व्याख्यान दिये। संस्था की उपाध्यक्षा एवं सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के संचालक मंडल की एक सदस्या होने के नाते आप योगदा सत्संग सोसाइटी आफ इण्डिया/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के आध्यात्मिक एवं लोकोपकारी गतिविधियों की, परमहंस योगानन्दजी की शिक्षाओं के प्रसार एवं मंदिरों, केन्द्रों, तथा एकांतनिवासों (Retreats) की स्थापना करने के कार्यों की देखभाल करने में संघमाता श्री श्री दया माता की सहायता करती हैं। योगदा सत्संग/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के संन्यासियों/संन्यासिनियों के आध्यात्मिक निर्देशन का उत्तरदायित्व भी उन पर है।

श्री श्री परमहंस योगानन्द

(1893–1952)

"ईश्वर-प्रेम तथा मानव-सेवा के आदर्श ने परमहंस योगानन्द के जीवन में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पायी ... । यद्यपि उनके जीवन का अधिकतर हिस्सा भारत के बाहर व्यतीत हुआ, तब भी उनका स्थान हमारे महान संतों में है। हर जगह परमात्मा प्राप्ति के मार्ग पर लोगों को आकर्षित करता हुआ उनका कार्य निरन्तर वृद्धिंगत एवं अधिकाधिक दीप्तिमान हो रहा है।"

इन शब्दों में भारत सरकार ने योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया / सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के संस्थापक श्री श्री परमहंस योगानन्द को उनकी महासमाधि की पचीसवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में 7 मार्च 1977 को उनके सम्मान में एक स्मृति टिकट जारी करते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

जगद्वंद्य महान गुरु श्री श्री परमहंस योगानन्द ने, जिनका शिष्य समुदाय मानवजाति के सभी वर्ण-वर्गों में फैला हुआ है, और जिनकी इस जगत में उपस्थिति ने अगणित लोगों के लिये ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त कर दिया, उच्चतम सत्यों को ही अपना जीवन बनाया और उन्हीं की शिक्षा दी। परमहंस योगानन्द जी का जन्म 1893 में गोरखपुर में हुआ था। 1920 में उन्हें उनके

गुरु ने अमेरिका में हो रहे उदारवादियों के विश्व धर्म सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भेजा। सम्मेलन के पश्चात् बोस्टन, न्यू यॉर्क, फिलाडेल्फिया में दिये गये उनके व्याख्यानों का अत्यंत उत्साह के साथ भव्य स्वागत हुआ, और 1924 में उन्होंने सम्पूर्ण अमेरिका में दौरे करते हुए व्याख्यान दिये।

अगले दशक में परमहंस जी ने व्यापक यात्राएँ कीं जिनमें उन्होंने अपने व्याख्यानों और कक्षाओं के दौरान हज़ारों नर-नारियों को ध्यान के यौगिक विज्ञान एवं संतुलित आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा प्रदान की।

1917 में योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया तथा 1925 में लॉस एंजिलिस (यू.एस.ए.) में सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के अंतर्राष्ट्रीय मुख्यालय की स्थापना के साथ जो कार्य उन्होंने शुरू किया, वह आज श्री श्री दया माता के मार्गदर्शन में चल रहा है। परमहंस योगानन्द जी की रचनाएँ, उनके व्याख्यान, कक्षाएँ, अनौपचारिक भाषण इत्यादि का प्रकाशन करने के साथ-साथ (जिसमें क्रिया योग ध्यान पर विस्तृत पाठमाला शामिल है), यह सोसाइटी योगदा सत्संग/सेल्फ-रियलाइज़ेशन मंदिरों, आश्रमों एवं ध्यान केन्द्रों की देखभाल करती है जो सारे विश्व में फैले हुए हैं। इसके अलावा यह संन्यास प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं विश्व प्रार्थना मंडल का भी संचालन करती है जो

आवश्यकताग्रस्तों की दैवी सहायता तथा सारे विश्व के लिये सामंजस्य एवं शांति के माध्यम का कार्य करती है।

क्विंसी हौवे, ज्यूनियर, पी.एच.डी., पुरातत्व भाषाओं के प्रोफेसर, स्क्रिप्स कॉलेज, ने लिखा है : ''परमहंस योगानन्द जी पश्चिम में केवल भारत का ईश्वर-साक्षात्कार का चिरन्तन आश्वासन ही नहीं लाये, अपितु एक व्यावहारिक पद्धति भी लाये जिसका अनुसरण करके जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्यरत आध्यात्मिक अभिलाषी उस लक्ष्य की ओर तेजी से अग्रसर हो सकते हैं। भारत की यह आध्यात्मिक विरासत जो पश्चिम में पहले अति गूढ़ एवं जटिल समझी जाती थी, अब उन सबकी पहुँच में अभ्यास एवं अनुभूति के रूप में आ गयी है जो ईश्वर को जानने की अभिलाषा रखते हैं, परलोक में नहीं, अपितु यहाँ और अभी ...। श्री योगानन्द ने ध्यान की उच्चतम प्रविधियों को सब की पहुँच के अन्दर लाकर रख दिया है।''

परमहंस योगानन्द के जीवन एवं उनकी शिक्षाओं का वर्णन उनकी आत्मकथा *''योगी कथामृत''* में उपलब्ध है, जो 1946 में उसके प्रकाशन के बाद आध्यात्मिक क्षेत्र में गौरव ग्रन्थ बन गयी है तथा अब विश्व भर में कई महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग में लायी जा रही है।

"आदर्श जीवन" पुस्तकमाला

शब्दावली

अवतार — यह शब्द अवतरण से बना है जिसका संस्कृत में अर्थ है *नीचे आना* या *उतरना;* विशेषत: ईश्वर या ईश्वरीय शक्तियों का शरीर में उतरना। जो परब्रह्म के साथ एक हो जाता है और फिर मानवजाति को सहायता के लिये शरीर धारण कर इस जगत् में आता है उसे अवतार कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार — ईश्वर के सर्वव्यापी चैतन्य के साथ एकाकार आत्मा के रूप में अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होना। श्री श्री परमहंस योगानन्द ने लिखा है : "आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है अपने शरीर, मन एवं आत्मा में यह जान लेना कि हम ईश्वर को सर्वव्यापिता के साथ एक हैं; कि हमें अपने पास उसे बुलाने के लिये प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, कि हम न केवल सदैव उसके सान्निध्य में हैं, बल्कि ईश्वर को सर्वव्यापिता ही हमारी अपनी सर्वव्यापिता है; कि हम उसके अभी भी उतने ही अभिन्न अंग हैं जितने कभी हो सकते हैं। हमें केवल इतना ही करना है कि अपने बोध को विकसित करें।"

ओम् (ॐ) — परमतत्त्व के सृजन एवं पालन करने वाले पहलू का, अर्थात् ब्रह्मनाद या ब्रह्माण्डीय स्पंदन का संकेत करनेवाला बीज शब्द या बीज ध्वनि। वेदों का *ओम्,* तिब्बतियों का *हुम्,* मुसलमानों का *आमीन* और मिश्रवासी, यूनानी, रोमन, यहूदी तथा ईसाइयों का *आमेन* बना। विश्व के सभी महान धर्म कहते हैं कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ओम् या आमेन या शब्द या पवित्रात्मा की स्पन्दनात्मक ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से उत्पन्न हुई है। ''आरम्भ में केवल शब्द था और शब्द ईश्वर के पास था और शब्द ही ईश्वर था .... हर वस्तु का सृजन उसी [शब्द या ओम्] ने किया था; और जो भी बना है उसमें उसके बिना कुछ भी नहीं बना।'' (बाइबिल : यूहन्ना 1:1, 3)।

कूटस्थ केन्द्र — भ्रूमध्य में स्थित एकाग्रता एवं इच्छा शक्ति का केन्द्र; कूटस्थ चैतन्य एवं दिव्य चक्षु (इसी शब्दावली में अन्यत्र देखें) का स्थान।

कूटस्थ चैतन्य — समस्त सृष्टि में व्याप्त ईश-चैतन्य। सृष्टि के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त इस ब्रह्म तेज को हिंदू शास्त्रों ने कूटस्थ चैतन्य कहा, ईसाई बाइबिल में इसे ''एकमात्र पुत्र'' कहा गया है। यह सर्वव्यापी चैतन्य है, परब्रह्म के साथ

एकरूपता है जो श्रीकृष्ण, जीसस तथा अन्य अवतारों में प्रकट हुई। महान सन्तजन एवं योगीजन इसे समाधि (इसी शब्दावली में अन्यत्र देखें) की अवस्था के रूप में जानते हैं जब उनकी चेतना सृष्टि के कण-कण में व्याप्त प्रज्ञा या तेज के साथ एकाकार हो जाती है; तब समूचे ब्रह्माण्ड को वे अपने ही शरीर के रूप में अनुभव करते हैं।

क्रिया योग — सहस्राब्दियों पहले भारत में उद्भूत हुआ एक पवित्र आध्यात्मिक विज्ञान। यह राजयोग का ही एक रूप है। इसमें ध्यान की कुछ ऐसी उन्नत प्रविधियाँ हैं जिनके अभ्यास से साधक ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करता है। *योगी कथामृत* के 26वें अध्याय में इसका अधिक विस्तार से वर्णन है। यह योगदा सत्संग सोसाइटी ऑफ इण्डिया/सेल्फ-रियलाइज़ेशन फेलोशिप के उन शिष्यों को सिखाया जाता है जो उसके लिये आवश्यक आध्यात्मिक योग्यताओं को पूर्ण करते हैं।

गुरु — आध्यात्मिक शिक्षक। गुरु गीता के 17 वें श्लोक में गुरु का वर्णन "अन्धकार नष्ट करने वाला" कह कर किया है (गु से अन्धकार और रु से नष्ट करने वाला)। यद्यपि गुरु

शब्द का दुष्प्रयोग प्रायः किसी भी शिक्षक के लिये किया जाता है तथापि सच्चा ब्रह्मज्ञानी गुरु वही होता है जिसने अपने आत्म-प्रभुत्व की प्राप्ति में सर्वव्यापी परमतत्त्व के साथ अपनी एकता स्थापित कर ली है। ऐसा सद्‌गुरु ही दूसरों का उनकी अंतरोन्मुखी आध्यात्मिक यात्रा में मार्गदर्शन के लिये योग्य होता है।

दिव्य चक्षु — भ्रूमध्य में कूटस्थ केन्द्र में स्थित अंतर्ज्ञान एवं आत्मिक अनुभूति का एकमात्र नेत्र; चेतना की उच्चतर अवस्थाओं में जाने का प्रवेश-द्वार। गहरे ध्यान में यह एकमात्र नेत्र या दिव्य चक्षु एक उज्ज्वल तारे के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह तारा नीले प्रकाशगोल से घिरा रहता है, और नीला प्रकाशगोल एक देदीप्यमान स्वर्णिम प्रकाश वलय से घिरा रहता है। इस सर्वदर्शी नेत्र का उल्लेख शास्त्रों में विभिन्न नामों से किया गया है, यथा, तृतीय नेत्र, पूर्व का तारा, अंतःचक्षु, स्वर्ग से उतरता कबूतर, शिव का तृतीय नेत्र, अंतर्ज्ञान चक्षु। ''इसलिये यदि तुम्हारी आँख एक हो तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से भर जायेगा।'' (बाइबिल : मत्ती रचित सुसमाचार 6:22)।

परमहंस — ईश्वर के साथ अखण्ड एकरूपता की सर्वोच्च

अवस्था प्राप्त कर लेने वाले मनुष्य के लिये प्रयुक्त की जानेवाली आध्यात्मिक उपाधि। यह उपाधि किसी योग्यता प्राप्त शिष्य को केवल एक सद्‌गुरु ही प्रदान कर सकता है। श्री योगानन्द को यह उपाधि स्वामी श्रीयुक्तेश्वर जी ने 1935 में प्रदान की।

पुनर्जन्म — इस पर विवरण परमहंस योगानन्द जी की *योगी कथामृत* के 43वें अध्याय में दिया गया है। जैसे कि वहाँ स्पष्ट किया गया है, मानवों के गत कर्मों के परिणाम उन्हें कर्म सिद्धान्त (इसी शब्दावली में अन्यत्र देखें) के अनुसार इस भौतिक जगत् में वापस ले आते हैं। उन गत कर्मों के परिणामों को भोगने के लिये और अंत में आत्मा की अंतर्निहित परिपूर्णता एवं उसकी ईश्वर के साथ एकरूपता के ज्ञान तक पहुँचानेवाली आध्यात्मिक क्रम विकास की प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखने के लिये मानव जन्म-मृत्यु के फेरे से बार-बार गुज़रते हुए बार-बार इस जगत् में आते हैं।

ब्रह्म चैतन्य — परंब्रह्म; सृष्टि से परे चैतन्य। इस संज्ञा का प्रयोग समाधि की उस अवस्था का संकेत करने के लिये भी किया जाता है जिसमें स्पन्दनात्मक सृष्टि में व्याप्त और सृष्टि

से परे ईश्वर के साथ तद्रूपता स्थापित हो जाती है।

भाग्य या कर्म — इस जन्म के या पिछले जन्मों के गत कर्मों के परिणाम। कर्म सिद्धान्त क्रिया और प्रतिक्रिया, कारण और परिणाम, बोने और काटने का नाम है। अपने विचारों और कर्मों से मानव अपने भाग्य के विधाता स्वयं बनते हैं। किसी व्यक्ति ने जिन शक्तियों को जाने-अनजाने में, बुद्धिमानी से या मूर्खता से गति दे दी हो, उन शक्तियों को उसी व्यक्ति के पास, आरम्भ बिन्दु होने के कारण, अपरिहार्यरूप से पूर्ण करने वाले वृत्त के समान, लौटकर आना ही होगा। किसी भी व्यक्ति के कर्म जन्म-जन्मांतर में उसका पीछा करते हैं जब तक उन्हें भोगकर समाप्त नहीं किया जाता या फिर जब तक वह व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति द्वारा उनकी पहुँच से बाहर नहीं निकल जाता। (इसी शब्दावली में *पुनर्जन्म* देखें)

माया — सृष्टि की रचना में अंतर्निहित एक भ्रम उत्पन्न करनेवाली शक्ति, जिसके कारण एक परमात्मा अनेक रूपों में प्रतीत होता है। माया सापेक्षता या परस्पर-सम्बद्धता, विपर्यास, परस्पर-भेद, द्वैत, परस्पर-विपरीत अवस्थाओं का

तत्त्व है। इसे ही बाइबिल के पूर्वविधान में *शैतान* कहा गया है। परमहंस योगानन्द जी ने लिखा है : "संस्कृत में माया शब्द का अर्थ है 'परिमाप करनेवाला या मापनेवाला'। माया सृष्टि में एक विलक्षण शक्ति है जिसके कारण अपरिमेय और अभेद में परिमितता और भेद की विद्यमानता का स्पष्ट आभास होता है ...। ईश्वर की योजना एवं लीला में माया या शैतान का एकमेव कार्य है मनुष्य को ब्रह्म से जड़ पदार्थ की ओर, सत्य से मिथ्या की ओर मोड़ने का प्रयास करना ...। माया प्रकृति में असारता का परदा है ... ऐसा परदा जो प्रत्येक मनुष्य को उसके पीछे छिपे स्रष्टा, अपरिवर्तनीय सनातन सत्य का दर्शन करने के लिये उठाना ही होगा।"

योग — *योग* (संस्कृत *युज्* से व्युत्पन्न) शब्द का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से मिलन, सायुज्यता। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जिन विधियों या प्रक्रियाओं को प्रयुक्त किया जाता है उन्हें भी योग कहा जाता है। योग की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। जिस प्रणाली की शिक्षा परमहंस योगानन्द जी ने दी वह राजयोग या सम्पूर्ण योग है जो मुख्यत: ध्यान की वैज्ञानिक प्रविधियों पर केन्द्रित है। योग के प्रथम व्याख्याता महर्षि पतंजलि ने अपने अष्टांग योग में आठ अंगों को

क्रमबद्ध किया है जिनके अभ्यास से राजयोगी समाधि या ईश्वर-सायुज्यता प्राप्त करता है। ये आठ अंग हैं (1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान, (8) समाधि।

समाधि — आत्मिक परमानंद; अधिचेतन अनुभव; अंततः, सर्वव्यापी परम सत्य के रूप में ईश्वर के साथ सायुज्यता।

सूक्ष्म जगत् — भौतिक सृष्टि के पीछे विद्यमान प्रकाश एवं ऊर्जा का सूक्ष्म जगत्। भौतिक जगत् के प्रत्येक जीव, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक स्पंदन का प्रतिरूप सूक्ष्म जगत् में है क्योंकि सूक्ष्म जगत् (स्वर्ग) में भौतिक जगत् की सम्पूर्ण रूपरेखा विद्यमान है। सूक्ष्म जगत् और उससे भी अतिसूक्ष्म कारण जगत् या विचारमूलक जगत् का विवरण श्री श्री परमहंस योगानन्द की *योगी कथामृत* के 43वें अध्याय में दिया गया है।

श्री श्री परमहंस योगानन्द रचित अन्य पुस्तकें :

योगी कथामृत
धर्म विज्ञान
परमहंस योगानन्द के वचनामृत
ईश्वर से वार्तालाप की विधि
सफलता का नियम
God Talks With Arjuna: The Bhagavad Gita (A New Translation and Commentary)
Man's Eternal Quest
The Divine Romance
Wine of the Mystic
Whispers From Eternity
Metaphysical Meditations
Scientific Healing Affirmations

Free Introductory Literature

Detailed instruction in the scientific techniques of meditation taught by Sri Sri Paramahansa Yogananda, including Kriya Yoga, are available in the Yogoda Satsanga Lessons. For free Introductory Literature, write to:

YOGODA SATSANGA SOCIETY OF INDIA
Paramahansa Yogananda Path,
Ranchi 834001, Jharkhand

"आदर्श जीवन" पुस्तकमाला
के अंतर्गत अन्य पुस्तिकायें

श्री श्री परमहंस योगानन्द

प्रार्थनाओं के उत्तर प्राप्त करना

चिंतामुक्त जीवन

दिव्य प्रेम का विकास कैसे करें

ईश्वर की असीम शक्ति द्वारा रोग-मुक्ति

मानसिक एकाग्रता द्वारा सफलता

रोग-निवारण की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पद्धतियों का समन्वित उपयोग

विजय का मार्ग कैसे पायें

श्री श्री दया माता

दूसरों के अंत:करण में परिवर्तन कैसे लायें

चरित्र दोषों पर विजय कैसे पायें

योगी कथामृत

द्वारा श्री श्री परमहंस योगानन्द

''शताब्दी की श्रेष्ठतम एक सौ आध्यात्मिक पुस्तकों'' में चुनी गयी यह लोकप्रिय आत्मकथा हमारे युग की एक महान आध्यात्मिक विभूति की अत्यंत चित्ताकर्षक छवि प्रस्तुत करती है। मन को मोह लेने वाली सुस्पष्टता, वाक्पटुता और हास्यरस युक्त भाषा कौशल का श्री श्री परमहंस योगानन्द ने अपने जीवन के इस प्रेरणाप्रद वृत्तान्त का वर्णन करने में प्रयोग किया है—उनके विलक्षण बचपन के अनुभव, किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु की उत्साही खोज में सारे भारत भर के अनेक संतों एवं ज्ञानियों से उनकी मुलाकातें, अपने गुरु के आश्रम में दस वर्षों का प्रशिक्षण, और वे तीस वर्ष जो उन्होंने अमेरिका में अपनी शिक्षाओं का प्रचार करते हुए बिताये। इसमें महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, लूथर बरबैन्क, कैथोलिक सन्त थेरेसे नॉयमन और अनेक विख्यात पौर्वात्य तथा पाश्चात्य आध्यात्मिक विभूतियों से उनकी मुलाकातों का भी वर्णन है।

योगी कथामृत एक असाधारण जीवन का अत्यंत सुंदर ढंग से लिखा गया वर्णन भी है और साथ ही योग के प्राचीन विज्ञान और उसकी ध्यान की चिरप्रचलित परंपरा का गहन परिचय भी है। इसमें लेखक महोदय दैनंदिन मानव जीवन की साधारण घटनाओं एवं साधारणतया चमत्कार कहे जाने वाली असाधारण घटनाओं के पीछे कार्यरत सूक्ष्म किन्तु सुनिश्चित नियमों को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार उनकी मंत्रमुग्ध कर देने वाली जीवन गाथा मानव अस्तित्व के अंतिम रहस्यों का अंतर्वेधी एवं अविस्मरणीय झलक प्रदान करने के लिये पृष्ठभूमि बन जाती है।

आधुनिक काल का आध्यात्मिक गौरव ग्रन्थ मानी जाने वाली यह पुस्तक अठारह भाषाओं में अनुवादित हो चुकी है तथा अब विश्व भर में कई महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक तथा संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग में लायी जा रही है। पचास से भी अधिक वर्ष पहले जब यह प्रथम बार अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी तभी से अब तक लोकप्रियता के शिखर पर आसीन इस पुस्तक ने विश्वभर में लाखों लोगों के हृदयों में अपना स्थान बना लिया है।

"इस ज्ञानी महात्मा की यह आत्मकथा पाठक को मंत्रमुग्ध कर देती है।" — *द टाइम्स ऑफ इण्डिया*

"एक अनुपम वृत्तान्त।" — *द न्यू यॉर्क टाइम्स*

"सुस्पष्ट टिप्पणियों सहित दिया गया मनमोहक चिंतन।" — *न्यूज़वीक*

"योग की इस प्रस्तुति के समान अंग्रेजी या किसी भी अन्य यूरोपीय भाषा में आज तक कुछ भी कभी लिखा नहीं गया।" — *कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस*

यह पुस्तिका, *योगी कथामृत* के लेखक श्री श्री परमहंस योगानन्द की शिक्षाओं पर प्रकाशित की गयी पॉकेट-साईज पुस्तिकाओं की शृंखला में से एक है। ये अनौपचारिक प्रवचन और निबंध आध्यात्मिक संतुलन में जीवन जीने के लिये प्रेरणाप्रद और व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान करते हैं ताकि हम जीवन को शालीनता एवं सादेपन के साथ, जीवन के प्रतीयमान विरोधाभासों में आंतरिक समभाव के साथ, और सर्वोपरि, आनन्द के साथ जी सकें — इस ज्ञान से सुरक्षित अनुभव करते हुए कि हम प्रत्येक क्षण प्रेमपूर्ण परम सत्ता के आलिंगन में बद्ध हैं।



परमहंस योगानन्द की
आध्यात्मिक विरासत

Rs 5.00

"आदर्श जीवन" पुस्तकमाला

The Guru-Disciple Relationship (Hindi)